अध्याय 8

उपसंहार

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ को लेकर विद्वानों में चाहे जितना विवाद हो, किन्तु अधिक से अधिक समय की सीमा स्वीकारने पर आदिकाल का काल खण्ड 5वीं से लेकर 14वीं शती तक अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों के साथ माना जा सकता है। भारतीय धरती पर जन्मने वाली अनेक पुरातन साधनाएं इसी काल के साहित्य में अपने सिद्धान्तों को आकार देकर अमर बन गयी हैं। महावीर स्वामी का जैन धर्म, अमिताभ गौतम की बौद्ध चेतना और उसके साथ सिद्धों की सिद्धि, नाथों की नीति और वाम मार्गी साधकों के वामाचार का जो सुस्पष्ट और चिन्मय अवतरण हिन्दी साहित्य के इस आदि काल में देखा जाता है, वह हिन्दी ही नहीं भारतीय साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा की एक अविस्मरणीय कड़ी है।

साधना और धर्म की लीक पर रचे गए अपभ्रंश कवियों की इस त्रिपथगा के परिपार्श्व में ही राजस्थान के चारण कवियों की वे वीर गाथाएं भी आती हैं जिनमें लोक जीवन के तमिस्त्र आवरण को तोड़ती हुई वीरता और शृंगार की रस धारा का भोग करने वाले वीरों की जिनगानी ज्योति के जग में उतर गयी है। "चन्द कवि के पृथ्वीराज रासो में उस पृथ्वीराज का वर्णन है जिसने दुर्दान्त यवनों के हाथ से जन्म भूमि की रक्षा के निमित्त दृषद्वती नदी के तट पर प्रसन्नता के साथ जीवोत्सर्ग किया था, जिन्होंने असाधारण अध्यवसाय, अविचल उदारता तथा अपूर्व देश हितैषिता के साथ समाज की उन्नति के निमित्त श्रद्धा और प्रीति की जलांजलि देकर तिरौटी में अपूर्व वीरता दिखाई थी। चन्द कवि ने उसी पृथ्वीराज का विवरण 'पृथ्वीराज रासो' में लिखा है।"[1] यही नहीं जैन कवियों के चरित्र काव्य से लेकर चारणों के वीर गाथा काव्य तक की आदिकालीन व्यापक साहित्यिक परिधि में दिखाई पड़ने वाले असंख्य भारतीय सपूतों की चरित्र एवं यश गाथाएं सहज ही साहित्यकार और कवि हृदय में उनके यशगान के सुरभित भाव जगाती और गुदगुदाती रही हैं। सम्भवतः इसीलिए प्रशस्ति की भावना ही आदिकालीन काव्य की मूलधारा है।

चिन्त्य है कि हिन्दी साहित्य जिन दिनों अपनी आदिम अवस्था में

1- बैजनाथ सहाय : भारतीय गौरव :, संस्करण 1984 : पृष्ठ-6

अपभ्रंश और डिंगल भाषा के बीच आकार ग्रहण कर रहा था, देश में छोटे - छोटे राज्य या रियासतें शासी घटक के रूप में स्थापित थीं । डिंगल भाषा भाषी राजपूताना क्षेत्र में वीर धर्म ही राजनीति का मूल शक्ति केन्द्र था । राज्य की रक्षा एवं अर्जित राजसी भोग के बीच नारी सुलभ सुख की अभिलाषा की उत्प्रेरक परिस्थितियाँ जीवन रच रही थीं । इन छोटे - छोटे दरबारों में आश्रित कवि अपने आश्रयदाताओं की विरुदावली बखानने में तल्लीन थे । फलतः युद्ध एवं प्रेम ही तत्कालीन राजधानी भाषा और साहित्य का प्रमुख प्रतिपाद्य बना । दरबारों में सामन्तीय जीवन जी रहे थे कवि आश्रयदाताओं का यशगान एवं उनकी राज्य सम्पदा की प्रशस्ति का वर्णन करना अपना पुनीत धर्म एवं कर्म समझ रहे थे । दूसरी ओर धर्म एवं साधना के क्षेत्र में सिद्धों और नाथों की यह परम्परा पुष्पित एवं पल्लवित हो रही थी । इनके द्वारा अपभ्रंश भाषा में लिखी जा रही वाणियों में पराकोटि की साधनात्मक प्रशस्ति भी यत्र-तत्र जोर पकड़े थी । उभय धाराओं में प्रतिफलित काव्य का विषय प्रायः प्रशस्ति मूलक ही रहा । इस प्रकार समस्त मरु - गुर्जर साहित्य लौकिक - अलौकिक प्रशस्ति के आलम्बनों की चेष्टाओं से उद्दीप्त होकर कवियों और काव्य कृतियों के संसार को व्यवस्थित दिशा दे रहा था, किन्तु आदिकाल के साहित्य पर अब तक जितने अनुसंधान हुए उनकी दृष्टि और चाहे जैसी रही हो, प्रशस्ति मूलक नहीं थी । प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध में आदिकालीन काव्य का वर्गीकरण करते हुए जैन, बौद्ध एवं सिद्ध तथा चारण कवि की रचनाओं में उपलब्ध प्रशस्ति के विविध रूपों का अध्ययन करते हुए रचना पर पड़ने वाली उनकी छाप को मूल्यांकित किया गया है ।

प्रशस्ति काव्य का वह स्वरूप है जिसमें लोक नियन्ता और लौकिक नरेशों के प्रकर्ष को हृदय से स्वीकारते हुए उसकी प्रजा पालकता, लोक रक्षा, न्याय, ऐश्वर्य, गौरव का उन्मुक्त गान किया जाता है । इस दृष्टि से एक ओर प्रशस्ति काव्य की यह मान्यता ईश्वरीय महिमा का गान करने वाले स्तोत्र काव्य की भूमिका का निर्वाह करता है और दूसरी ओर इसमें लोक नरेशों की विरुदावली का लोक रस पूर्ण रंग भी देखा जाता है । सीमित अर्थ में प्रशस्ति को केवल राजाओं की प्रशंसा तक सार्थक माना गया है, किन्तु प्रशस्ति का अर्थ विस्तार करते हुए इस शोध - प्रबन्ध में हमने लौकिक - अलौकिक दो भेद करते हुए अलौकिक पुरुषों, शक्तियों से सम्बद्ध सन्दर्भों को भी उनके गुणात्मक रूप में प्रशस्ति ही माना है ।

हिन्दी के आदिकालीन प्रशस्ति काव्य की इस रचना प्रक्रिया पर पूर्ववर्ती संस्कृत काव्य की प्रशस्ति भावना का भी प्रभाव है । 'प्राचीन भारत में हमें बहुत से शिलालेख, स्तम्भ लेख एवं प्रस्तर लेख उत्कीर्ण मिलते हैं, जिनमें तद्-युगीन राजाओं की कीर्ति अमर रखने एवं उनके आदेश को जनता तक पहुंचाने का प्रयत्न किया गया है । इन अभिलेखों का प्रधान वर्ण्य विषय राजाओं की प्रशस्ति को विस्तारित करना है । इनमें राजाओं की विजय, संधि शासन व्यवस्था, धार्मिक कृत्य आदि का ही आलंकारिक चित्रण है । इतिहास की दृष्टि से इन अभिलेखों का महत्व स्पष्ट ही है, साथ ही ये संस्कृत काव्य की परम्परा का भी निर्देश करते हैं । मैक्स मुलर ने विक्रम की ८: शताब्दियों में संस्कृत काव्य का अभाव पाकर इसे संस्कृत काव्य का निशा काल कहा है । किन्तु इस तथाकथित निशाकाल में कमनीय स्तुति काव्यों की रचना हुई है । बूलर, कीलहार्न, फ्लीट ने इन अभिलेखों को यश काव्य परम्परा में स्वीकारा है ।[1] जो भी हो हिन्दी में प्रशस्ति रचना का वातावरण इस प्रकार आदिकाल के पूर्व ही निर्मित हो चुका था । संस्कृत के महाकाव्य, चरित काव्य, नाटक, कथा - साहित्य, लक्षण ग्रन्थ प्रशस्ति के लोक - परलोक मूलक आलम्बन से उसके अनेक रूपों का विधान कर चुके थे । इस प्रकार हिन्दी के आदिकालीन काव्य में प्रशस्ति के जिन रूपों की व्यंजनाएं हुई हैं उनमें निम्न प्रमुख हैं[2]—

(1) यश गान
(2) वंश - वर्णन
(3) वीरता - वर्णन
(4) सम्पदा और वैभव का वर्णन
(5) याचना एवं प्रणति
(6) स्तुति एवं आराधना
(7) शरणागत भाव की अभिव्यक्ति
(8) रूप वर्णन
(9) अन्य ।

1- डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल : संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियां :संस्करण-1: पृष्ठ - 44

2- प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध : अध्याय .1 : पृष्ठ - 18

यह स्पष्ट है कि आदिकालीन साहित्य की विरासत के रूप में संस्कृत साहित्य से जहाँ एकाधिक परम्पराएँ मिलीं वहीं प्रशस्ति काव्य की अनुगूँज भी इसी काव्य में सुनाई पड़ी, जिसकी प्रतिध्वनि अपनी सीमा और संस्कार के अनुसार हिन्दी के न केवल आदिकालीन काव्य अपितु भक्ति एवं रीतियुग की कविता में सुनाई पड़ रही है । हिन्दी काव्य की विकास परम्परा में काल विभाजन और नामकरण की समस्या बहुत जटिल रही है । अलग - अलग विद्वानों ने अपनी अनुशीलन वृत्ति और तर्क के अनुसार अलग - अलग नामकरण किए हैं । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रारम्भिक युग की आदिकाल की संज्ञा देते हुए भावी हिन्दी भाषा और उसके काव्य रूप के अंकुरण अथवा बीजारोपण का काल माना है ।[1] शुक्ल जी ने वीरगाथा काल, राहुल जी ने सिद्ध - सामन्त काल और रामकुमार जी ने सन्धि और चारण काल के मिश्रित नामों से इसी बीज वपन काल का संकेत दिया है । इसी बीजवपन काल में प्रशस्ति भावना का उद्भव और विकास विगत पृष्ठों पर रेखांकित संदर्भों के रूप में हो चुका था, क्योंकि इस काल की समय सीमा 5वीं शती से लेकर 14वीं शती तक प्रसरित है । इसलिए प्रशस्ति के विभिन्न रूप अनेक कृतियों में अपनी सम्पृक्तता के साथ निदर्शित हुए हैं ।

आदिकालीन काव्य की प्रेरणा भूमि के मुख्य दो ही रूप हैं :-

(अ) धर्म भावना
(ब) सामन्तवाद

इन उभय प्रेरणाओं ने धार्मिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक जीवन मूल्यों के रूप में तत्कालीन काव्य रचना की प्रक्रिया को तो प्रभावित ही किया है, सामन्तवादी राजनीति और समाज रचना में स्वभावतः उभरने वाले जीवन पद्धतियाँ भी उस समय के साहित्यिक निर्माण में अपना उल्लेखनीय योग देती रही हैं जिनका प्रभाव जैन, सिद्ध और नाथों की अपभ्रंश भाषा की कृतियों में तथा राजपूताना के चारण कवियों की डिंगल रचनाओं के माध्यम से सशक्त रूप में प्रतिबिम्बित हुआ है । यह सर्व विदित है कि हिन्दी साहित्य का आदिकाल धर्म और सामन्तवाद के आपसी टकराव के कारण संक्रमणकालीन साहित्य है । इस काव्य की प्रशस्ति भावना की प्रेरणा और उसके परिपाक में युगीन जीवन बोध का गहरा प्रभाव देखा जाता है ।

1- डा० जयकिशन प्रसाद : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ : पृष्ठ - 34

ऊपर दिए गए संकेत से स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि भेद एवं प्रवृत्ति के विचार से आदिकालीन काव्य की दो धाराएँ हैं । भाषिक संरचना की दृष्टि से –

(अ) अपभ्रंश भाषा काव्य
(ब) डिंगल भाषा काव्य

तथा विषय की दृष्टि से उक्त दोनों भाषाओं में लिए गए काव्य को निम्न दो नाम दिए गए हैं[1] –

(अ) साधनात्मक काव्य
(ब) सामन्तीय काव्य

साधनात्मक काव्य जो अपभ्रंश भाषा में पाया जाता है, तीन प्रकार के साधना सम्प्रदायों द्वारा विनिर्मित है –

(अ) जैनियों का जैन काव्य
(ब) बौद्ध सिद्धों का सिद्ध काव्य
(स) नाथ पंथी योगियों का नाथ काव्य

जैन कवियों की रचनाएँ काव्य रूप की दृष्टि से प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूपों में पाई जाती हैं । जैन सन्तों, श्रावकों, आचार्यों, मुनियों आदि ने इस काव्य की रचना की है । इस काव्य के अन्तर्गत चरितकाव्य, गीत, वस्तु, चौपद, रास और रासान्वयी, स्तवन, फागु, सज्झाय, पद, चांचरी आदि अनेक रूप पाए जाते हैं । इन कृतियों में सामयिक जीवन के वैविध्य का निरूपण हुआ है । अलौकिक साधना, अहिंसा, प्रेम, सत्य के सुखद शालीन भावों की छटा दिखाने के साथ ही साथ जैनाचार्यों की रचनाओं में लोक सुखभोग और वीरता की गौरवमयी परम्पराओं को प्रतिष्ठा मिली है । पुष्पदन्त, स्वयम्भू, रामसिंह, जिनदत्त सूरि, वीर कवि, वज्रसेन सूरि, कनकामर, धनपाल, लक्ष्मण, जिन पद्म सूरि, अभय देव सूरि, विनय चन्द सूरि, त्रिभुवन, सुमति गणि, जिनभद्र सूरि आदि प्रमुख कवि हैं ।

सिद्ध साहित्य धर्म की उस साम्प्रदायिक परम्परा का साधनात्मक रूप

1- प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध : अध्याय 3 : पृष्ठ - 71

है जिसका विकास भारतीय हठयोग की भूमि पर हुआ है । यह काव्य प्रायः मुक्तक काव्य है । सिद्ध सम्प्रदाय में जिन चौरासी सिद्धों का उल्लेख किया जाता है उनमें कुछ ही सिद्ध ऐसे थे जिन्होंने साहित्य सर्जना की है । इनकी संख्या 13 - 14 के करीब बताई जाती है । सरहपा, शबरपा, कुण्डीपा, लुइपा, डोम्बिपा, भुसुकपा, दारिकपा, विरूपा आदि इसी कोटि के सिद्ध थे । इन सिद्धों ने चर्यापद, चर्यागीत, दोहा कोश, गान, गीति पद सब कुछ लिखा है । समूचा सिद्ध साहित्य महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री, डा० शहीदुल्ला, प्रबोध चन्द्र बागची और राहुल सांकृत्यायन द्वारा विवेचित और मूल्यांकित किया गया है । बौद्ध - गान - ओ दोहा, तिलोपादस्य दोहा कोश, सरहपादीय दोहा, कण्हपादस्य दोहा कोश, हिन्दी काव्य धारा आदि सिद्धों की रचनाओं के संकलित ग्रन्थ हैं ।

नाथों की संख्या नौ थी । नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक सिद्ध गोरखनाथ थे । इनकी साधना पीठ वर्तमान गोरखपुर नगर था । नौ नाथों में केवल छः नाथ साहित्यकार थे[1] जिनमें गोरखनाथ, चौरंगीनाथ, गोपीचन्द, भुणकरनाथ, भर्तृहरि नाथ, जालन्धरी पाद का नामोल्लेख किया जाता है । डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने गोरखनाथ के नाम से उल्लिखित 40 ग्रन्थों में से केवल 13 को प्रामाणिक माना है, जिसका डा० कोमल सिंह सोलंकी ने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है ।[2] नाथ सिद्धों की बानियाँ नाम से नागरी प्रचारिणी सभा ने स्वर्गीय डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के सम्पादन में एक ग्रन्थ संवत् 2014 में प्रकाशित किया था जिसमें विभिन्न नाथों की कृतियों के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं ।

आदिकाल के काव्य की दूसरी धारा को सामन्तीय काव्य, डिंगल काव्य, वीर काव्य, चारण काव्य तथा वीरगाथा काव्य के नाम से जाना जाता है । प्रामाणिक दृष्टि से यद्यपि वीरगाथा काव्य के नाम से रेखांकित रचनाओं के पाठ काल के विपुल प्रवाह में बहकर अस्त - व्यस्त और अनुपलब्ध प्राय है और पुरातन प्रबन्ध संग्रह में पाए जाने वाले छन्दों के अतिरिक्त किसी रासो अथवा वीर काव्य की प्रामाणिकता सिद्ध करने का साक्ष्य प्रायः विद्वानों में नहीं रह गया है, फिर भी जो वीर गाथाएँ अथवा

1- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास : (ना०प्र०स० संस्करण):पृ० 407
2- नाथ पंथ और निर्गुण सन्त काव्य :. पृष्ठ - '40'

वीर काव्य प्राप्त है उन्हें हम काव्य की विकसन शील परम्परा की धरोहर मात्र मान सकते है । अद्यतनतन शोध के प्रकाश में जिन प्रमुख चारण काव्यों का उल्लेख किया जाता है और जो हमारे अध्ययन की समय - सीमा के अन्तर्गत आते हैं, उनकी संख्या अत्यन्त नगण्य है । इन ग्रन्थों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और बहुचर्चित ग्रन्थ एकमात्र पृथ्वीराज रासो है । राजस्थानी भाषा में रासो, सतसई, वचनिका, प्रकाश, विजय, बत्तीसी आदि संज्ञाओं के साथ छोटे - बड़े और भी अनेक काव्य रचायित किए गए है ।

चारण कवियों की इन रचनाओं के सम्बन्ध में डा० उदयनारायण तिवारी, डा० टीकम सिंह तोमर, श्री अगरचन्द नाहटा, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव आदि की टिप्पणी के प्रकाश में किए गए अनुशीलन से ऐसा स्पष्ट होता है कि इनमें वीरता और शृंगार की भावना का ही बाहुल्य है और यही कवियों की सामान्य विचारधारा भी रही है । उपलब्ध ग्रन्थ और उनके पाठ की प्रशस्ति मूलक विवेचना की दृष्टि से देखने पर इन ग्रन्थों में प्रशस्ति के जो सूत्र विकीर्ण पाए गए है वे निम्नवत् है —

(अ) आश्रयदाताओं की अतिश्योक्तिपूर्ण प्रशंसा
(ब) युद्धों का जीवन्त चित्रण
(स) वीर और शृंगार रस का समन्वय
(द) कल्पना और चमत्कार प्रदर्शन
(य) भावोत्तेजना द्वारा वीरता का जागरण
(र) दरबारी में धाक जमाने का मोह
(ल) हिन्दुत्व की महिमा की प्रतिष्ठा

आदिकाल की विभिन्न काव्य धाराओं में काल क्रम से जैन कवियों की रचनाएं सिद्धों - नाथों की बानियां जो अपभ्रंश भाषा में पाई जाती है, पूर्ववर्ती है और चारणों की कृतियां उत्तरवर्ती आदिकाल की सम्पदा स्वीकारी गयी है ।

साधनात्मक साहित्य में जैन सन्तों की रचनाएं संख्या और प्रभाव की दृष्टि से अधिक व्यापक है । गुजरात, राजस्थान तथा देश के विभिन्न भागों में

स्थापित जैन तीर्थ स्थानों के ग्रंथागारों में भी हजारों की मात्रा में पुरानी पोथियां पाई जाती हैं। ध्यातव्य है कि न केवल जैन अपितु सिद्ध - नाथ साहित्य के प्रेरणा स्त्रोत भारतीय पुराण, रामायण, रामकथा, कृष्णकथा, हठयोग, रहस्य साधना और लोक रस से जुड़े हुए हैं। शैली की दृष्टि से जैन काव्य में प्रबन्ध - मुक्तक, खण्ड - काव्य, महाकाव्य, चरित, रास, दोहा, चर्चरी और फागु लिख कर साम्प्रदायिक सिद्धान्त के प्रतिपादन के प्रति पूरी तत्परता तो दिखाई दी गयी है उनमें सामाजिक, घटनाओं परम्पराओं और विचारणाओं को यथार्थ के तल पर आरोपित किया गया है। जैन काव्य वैयक्तिक संवेदनाओं के निरूपण के साथ सामाजिक संस्कृति के अनेक आयामों को उपस्थित करता है। वाणिज्य व्यवस्था, धर्म, कर्म, शिल्प कला, दर्शन, राजनीति आदि जीवन से जुड़े हुए अनेक विषय इन काव्यों में प्रसंगानुसार वर्णित हैं।

साधना की अलौकिक दिव्य प्रभा की छाया में लोक जीवन की सम्पन्नता और ऐहिक समृद्धि के बीच से साधना की राह खोजने वाले अहिंसाजीवी जैनियों की रचनाओं में उपलब्ध प्रशस्ति के स्वरों में सबसे मुखर स्वर प्रणति एवं शरणागति भाव का है -

आदि जिणेसर केरउ नंदणु
कुरु नरिंदु हुउ कुल मंडणु
तासु पुत्त हुउ हाथियउ ॥[1]

इसके अतिरिक्त जम्बूसामि चरिउ, जिणदत्त चरिउ, समरा रास, गयसुकुमाल रास, आदि काव्यों में स्तुति एवं आराधना मूलक प्रशस्ति के अनेक मर्मस्पर्शी स्थल पाए जाते हैं। यश एवं प्रताप मूलक प्रशस्ति की भावना की व्यंजना के विचार से स्वयम्भू रामायण, जिणदत्त चरिउ, पाहुड़ दोहा, कवि बब्बर की स्फुट कविताएं, सन्देश रासक, उपदेश तरंगिणी, बाहुबलि रास, कुमारपाल रास का काव्य कलेवर विशेष उल्लेखनीय है। जैन काव्य में प्रशस्ति का तीसरा स्वर सम्पदा एवं वैभव निरूपण का है। णयकुमार चरिउ, स्वयम्भू रामायण, जसहर चरिउ, जिणदत्त चरिउ, भारतेश्वर बाहुबलि रास के अनेक छन्द विचारणीय हैं। जैन काव्य में स्नेहात्मक प्रशस्ति भी खूब पाई जाती है। भविसयत्तकहा, आदिपुराण, जम्बू सामि चरिउ, स्वयम्भू रामायण के अतिरिक्त राहुल जी द्वारा संकलित हिन्दी काव्य धारा में जैन कवियों के छन्दों में

1- शालिभद्र सूरि : पंच पंडव चरित रास : छन्द संख्या - 4

स्नात्मक प्रशस्ति के सुन्दर उदाहरण देखे गए हैं । स्वयम्भू रामायण, बाहुबलि रास, जम्बूसामि चरिउ, पउम चरिउ आदि ।, भारतेश्वर बाहुबलि घोर रास, उत्तर पुराण, करकण्ड चरिउ, महापुराण, प्राकृत पैंगलम् आदि काव्य ग्रंथों में जैन कवियों की वीरता मूलक प्रशस्ति भावना का सविस्तार वर्णन देखा जाता है ।

सिद्ध - नाथ कवियों की रचनाएँ प्रायः मुक्तक ही हैं । सिद्धों - नाथों की मूल विचार धारा की अधिकतम समता के कारण उनकी विषय ग्राह्य का वृत्ति भी समान ही है । बौद्ध सिद्धों ने प्रायः चर्या पदों की रचनाएँ की हैं तो सिद्धों की सबदी संवाद साहित्यिक क्षेत्र में बहुचर्चित हैं । सिद्ध और नाथ साधना में साहित्य का योगदान करने वाले कवियों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है । सिद्ध और नाथों ने अपने गुरुओं के प्रति प्रणति एवं समाराधना की भाव विभोर व्यंजनाएँ की हैं । इनके कहने के ढंग सरल एवं सपाट हैं किन्तु इनका कथन झूमनशील है । अपने गुरुओं की महिमा के गान में भी इन अवधूतों का मन खूब रमा है । नाथ सिद्धों की बानियाँ, गोरखबानी जैसे ग्रन्थों में उपलब्ध बन्दों के बीच इस प्रकार के भाव पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं । उल्लेखनीय है कि इनके चर्यागीतों में बौद्ध कल्पनाओं के सहारे अलौकिक सत्ता के यशगान की प्रबल प्रवृत्ति पाई जाती है ।

इस तथ्य को स्वीकारने में मुझे कोई संकोच नहीं कि शोध के लिए जब इस विषय पर विचार किया गया था तो समझा यह गया था कि आदिकाल के चारण कवियों की रचनाओं में ही प्रशस्ति भाव मिलेगा, किन्तु यत्किंचित अध्ययन करने के उपरान्त हमें अपने विषय का विस्तार करना पड़ा । इस उल्लेख से मेरा तात्पर्य यह है कि आदिकाल के चारण काव्य में ही प्रशस्ति के प्रवाह की सामान्य सूचना साहित्यिक क्षेत्र में उपलब्ध थी । जो भी हो राजपूताना के सामन्तों का जीवन यद्यपि भोगवादी थे तो बलिदान धर्मी भी । इसलिए उनकी चढ़ती हुई जिन्दगी की तस्वीर खींचने वाले चारणों ने ढोंग, पंवारा, गाथा, रासो के नाम पर जो भी लिखा है, उसका अधिकांश और प्रमुख आयाम प्रशस्ति संकुल है । प्रशस्ति के इन स्वरूपों पर राजपूतों के जीवन मूल्यों का सीधा आरोप है । यद्यपि इन चारणों ने प्रशस्ति काव्य, वीर काव्य, भक्ति और श्रृंगार काव्य रच कर जीवन की बहुविधि दिशाओं को अनावृत किया है तो भी इस धारा की कविता का मुख्य आकर्षण प्रशस्ति का लौकिक और कहीं-कहीं अलौकिक रूप है ।

प्रायः सभी रासो काव्यों के प्रारम्भ में चारणों ने देवी - देवताओं के प्रति वन्दना, प्रणति एवं आराधना की भावना पूरी श्रद्धा और आस्था के साथ व्यक्त की है। पृथ्वीराज रासो के प्रायः सभी समयों में प्रशस्ति का यह रूप पाया जाता है। यश एवं प्रताप वर्णन तो वीर गाथाओं का मुख्य विषय ही था। चन्द के पृथ्वीराज रासो में इस भाव को सफलता के साथ व्यक्त करने वाले सैकड़ों छन्द पाए जाते हैं। प्रताप वर्णन के विचार से विद्यापति की कीर्तिलता का महत्व भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वीरता क्षत्रियों के जीवन का शृंगार नहीं, सब कुछ थी। इसलिए इन कृतियों के एक - एक शब्द वीर रस का आसव पीकर अपनी खुमारी में बेसुध होकर झूमते दिखाई पड़ते हैं। यह तथ्य सर्व स्वीकृत है कि जो रूपसियों के रूप का भोग करने में आतुर होता है वही समर भूमि में तलवार के पानी की पहचान कराने में आतुरता दिखा सकता है। राजपूताने के क्षत्रियों के सम्बन्ध में यह तथ्य पूर्णतया चरितार्थ था, इसलिए वीर रस के साथ शृंगार की धारा के समानान्तर प्रवाह में स्वामित्व प्रशस्ति की सतरंगी छटा देखी जाती है। सम्पदा एवं वैभव से सम्बन्धित प्रशस्ति भावना के उदाहरण कीर्तिलता, चन्द कुँवरि री वार्ता, विक्रमादित्य राजा री बात, पृथ्वीराज रासो के अनेक छन्दों में सुलभ है। यश एवं महिमागान के विचार से बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, कीर्तिलता जैसी कृतियों के अनेक स्थल शोध के छठें अध्याय में विवेचित किए जा चुके हैं।

इस शोध प्रबन्ध की समाप्ति पर पूरी आस्था के साथ यह घोषणा करते हुए आज मैं गर्व अनुभूत हो रही हूँ कि प्रशस्ति की भावना यदि इन कवियों का मुख्य विषय था तो इससे यह बात अधिक सत्य है कि आदि काल में कवि समाज के बीच प्रशस्ति का यह चिन्तन यदि न उभरता तो शायद इतनी रचनाएं आदिकाल के नाम पर हिन्दी संसार में दिखाई न पड़तीं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि यश एवं गौरव पाने और बखानने में मानव स्वभाव सदा से रमता रहा है। जो भी हो, जैसा भी है इस शोध-प्रबन्ध में आदिकालीन काव्य चेतना के सन्दर्भ में प्रशस्ति के प्रवाह का जो क्रमबद्ध अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है उससे हिन्दी अनुसन्धान और आलोचना के क्षेत्र में साहित्य के विद्यार्थी कतिपय नवीनता का सुख अनुभव करेंगे। ऐसा मैं विश्वासती हूँ। तथास्तु।

000